नीति तत्व और जैन आगम

• श्री सुभाष मुनि "सुमन"

मनुष्य यहाँ जिस आयुष्य-कर्म को बांध कर आता है, उसे वह भोगना ही पड़ता है। दुनियाँ में जन्म लेने वाल को जीना ही पड़ता है, रोकर, हंसकर या समभाव से, पर तब तक जीना अनिवार्य है, जब तक जीने का विधान है। मनुष्य पैरों से चलना चाहे जब सीखे, चले या न चले, यह उसकी परिस्थितियों और इच्छा पर निर्भर है, परन्तु जन्म के क्षण से लेकर अन्तिम श्वांस तक उसे समय के सोपान पर चढ़ते ही रहना पड़ता है। नियति के इस अटल नियम को तोड़ा नही जा सकता है।

जीवन-सागर की अटल गहराइयों तक पहुँच कर जीवन शास्त्र का निर्माण करने वाले तत्वदर्शी महामुनियों ने सोचा कि जीना तो सबको ही पड़ता है, परन्तु क्या कोई ऐसी कला या विद्या नहीं, जिससे मानव परिस्थितियों पर जीवन की उलझनों पर विजय प्राप्त करके हंसते-हंसते जीना सीखें। अपने इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होंने नये-नये प्रयोग आरम्भ किये, जीवन के प्रत्येक अंग का विश्लेषण किया, जीव और जीवन के सम्बन्ध-सूत्रों की छान-बीन की, मानसिक जगत के भाव-मण्डल में होने वाली प्रत्येक क्रिया को परखा, बौद्धिक स्तरों को जाना, पहचाना और इस प्रकार सुदीर्घ, साधना के अनन्तर उस कला का आविष्कार किया, जिस कला के अभ्यास से मानव हंसते-हंसते जीये और अपनी अभीष्ट साधना से वह प्राप्त कर सके, जिसे वह प्राप्तव्य मानता है। इसी जीवन-कला को वे 'नीति' कहने लगे। नीति का अर्थ है जीवन कला।

यह सत्य है कि जीवन-प्राप्तव्य की प्राप्ति में ही सुख है और सुख की शीतल छाया में स्थित मानव-सुख पर ही उल्लास जन्य हास्य की आभा छिटका करती है, परंतु प्रश्न है कि जीवन में प्राप्ततव्य क्या है? मनुष्य क्या पाना चाहता है और इस प्रश्न के दूसरे पहलू पर विचार करके यह भी देखना होगा कि मनुष्य क्या छोड़ कर आनन्द की अनुभूति करता है। इन प्रश्नों के उत्तर खोजने में चाहे जितना समय लगा हो, परन्तु नीतिविज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुँच ही गये कि 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' ये ही जीवन के प्राप्तव्य है, शेष जो कुछ भी है वह सब इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति के सहायक मात्र हैं।

इस चतुर्वर्ग को दो भागों में बांटा गया है। एक और तो अर्थ और काम को रखा गया है और दूसरी ओर धर्म और मोक्ष को। वस्तुतः धर्म का स्थान दोनों भागों में है अतः कुछ मनीषियों ने त्रिवर्ग-भिन्नता की भी कल्पना की है। त्रिवर्ग-साधना को लोक-साधना भी कहा जा सकता है और धर्म मोक्ष को संयुक्त वर्ग को परलोक साधना। यद्यपि यह महासत्य है कि जैन साहित्य धर्म-साधना और मोक्ष साधना को ही विशेष महत्व देता है, परन्तु लोक-साधना उससे सर्वथा अछूती रही हो यह भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में त्रिवर्ग-साधना अर्थात् लोक साधना मुख्य रही है और परलोक साधना गौण, यही कारण है कि वहाँ मोक्ष को बैकुण्ठ रूप में उपस्थित किया गया है और वहाँ पर भी अर्थ सुख व काम सुख की उपलब्धि स्वीकार की गई है। जैन-संस्कृति मोक्ष को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमुखता देती है, धर्म को उसका आधारभूत साधन स्वीकार करती है और इसीलिये अर्थ एवं काम से उदासीनता का पाठ पढ़ाती है।

वात्स्यायन ने प्रजापति के द्वारा एक लाख अध्यायों वाले त्रिवर्ग-शासन के निर्माण की बात लिखी है और कहा है कि उन्हीं एक लाख अध्यायों के आधार पर प्रजा की आनन्दमयी स्थिति के लिये मनु के धर्माधिकार, वृहस्पति ने अधर्माधिकार और नन्दी ने कामसूत्र अर्थात् कामाधिकार का निर्माण किया। इस त्रिवर्ग शासन की व्याख्या के रूप में नारद, इन्द्र, शुक्र, भरद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर और मनु आदि महर्षियों ने अपने नीति-शास्त्रों एवं स्मृतियों को रचा। आचार्य चाणक्य इस नीति-परम्परा के कुशल पारखी, अनुभवशील त्रिवर्ग-साधक हुए। उनका अर्थशास्त्र लोक-तत्व की विशद व्याख्या है।

जैन मुनीश्वर इस विषय में सर्वथा मौन रहे हो, यह तो नहीं कहा जा सकता। श्री सोमदेव सूरि (११ वीं शती) अपने नीति वाक्यामृत में 'समं वा त्रिवर्ग सेवेत' (३/३) कह कर धर्म, अर्थ एवं काम की समभाव से सेवना का समर्थन करते हैं। दशवैकालिक सूत्र (निर्युक्ति) में भी कहा गया है -

धम्मो अत्थो कामो भिन्ने ते पिंड़िया पड़िसत्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥

धर्म, अर्थ और काम को चाहे कोई परस्पर विरोधी मानता हो, परन्तु जिनवाणी के अनुसार तो ये जीवन अनुष्ठान में परस्पर अविरोधी है। परन्तु जैनागमों में कहीं भी अर्थ और काम की सेवनीयता का समर्थन नहीं किया गया है। जैनागमों का प्रबल पक्ष धर्म और मोक्ष ही रहे हैं, 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' कह कर धर्म को ही जीवन के लिये मंगलकारी कहा गया है।

इतना अवश्य है कि बत्तीसों आगमों ने, प्रकीर्ण शास्त्रों ने, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिनिर्माताओं ने यथा-स्थान चतुर्वर्ग के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष घोषित करते हुए अपनी स्वतंत्र नीति का अपनी विलक्षण जीवन कला का परिचय दिया है।

जैन साहित्य को हम धर्म और मोक्ष सम्बन्धी नीति वाक्यों का महासागर कह सकते हैं, इन दोनों के हर पहलू को जैन-दर्शन नें परखा है, उसका विश्लेषण किया है और जीवन के लिये उनकी उपयोगिता पर विशद प्रकाश डाला है। सागर में जैसे नदियाँ मिलती हैं, इसी प्रकार छोटी-छोटी नदियों के रूप में इस महासागर में अर्थ और काम की सरिताएँ भी कहीं-कहीं मिलती अवश्य दिखाई देती है। जैसे -

अर्थ नीति - सर्व प्रथम अर्थ नीति को ही लीजिये, इस विषय में जैनागमों के कुछ नीति वाक्य प्रस्तुत कर रहा हूँ -

लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा। -आचाराङ्ग १-२-५

अर्थ लाभ की दशा में गर्व नहीं करना चाहिये, परन्तु उसकी अप्राप्ति पर शोक भी नहीं करना चाहिये।

सव्वं जगं पर तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं वित्ते अप्पज्जतं, नेव ताणाय तं तव॥ -उत्तरा १४/३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगर सारे संसार पर तुम्हारा अधिकार हो जाय, दुनिया का सारा धन तुम्हें ही मिल जाय, तब भी तुम्हें वह अपर्याप्त ही प्रतीत होगा, वह धन अन्त समय में तुम्हारी रक्षा भी नहीं कर सकता है।

जा बिहवो ता पुरिसस्स होइ, आणापड़िच्छओ लोओ।

गलिओदयं धणं विज्जुलावि दूरं परिच्चयइ॥ - प्रा.सू.स.

जब तक मनुष्य के पास वैभव है तब तक ही लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, पानी समाप्त होने पर तो बिजली भी बादल का परित्याग कर देती है।

थोवं लद्धुं न खिंसए। -दशवै २/२९

थोड़ा प्राप्त होने पर भी मनुष्य को झुंझलाना नहीं चाहिये।

खेतं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बंधवा।

चइत्ताणं इमं देहं, गतव्वमवस्स में॥ -उत्तरा १९/१७

खेत, वस्तुएं, सोना, पुत्र, पत्नी, बन्धु, बान्धव और इस देह को भी त्याग कर हमें यहाँ से अवश्य ही जाना पड़ेगा।

उपर्युक्त अर्थ-नीति सम्बन्धी वाक्यों से ज्ञात होता है कि अपरिग्रह-प्रधान, जैन संस्कृति ने अर्थ-नीति के गाह्य पहलू को नहीं, उसके त्याग-पक्ष को विशेष महत्व दिया है। उसका लक्ष्य वाक्य यही रहा है -

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्च रक्षणे।

आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थान् कष्ट संक्षयान्॥

धन को एकत्रित करते समय दुःख उठाने पड़ते हैं, उसकी रक्षा के लिये भी दुःखों का ही सामना करना पड़ता है, अतः धन के आगमन में कष्ट है, उसके व्यय में कष्ट है, इस प्रकार सभी प्रकार से कष्ट दायक धन को धिक्कार है।

कामनीति - ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ आधार शिला पर अवस्थित जैन-संस्कृति के पावन प्रासाद में हम काम के उसी रूप में दर्शन करते हैं, जिस रूप में उसका विचरण वहाँ निषिद्ध किया जा रहा है, कहीं-कहीं उसे धक्का देकर बाहर निकाला जा रहा है, अथवा उसे वहां से निकलने का आदेश पत्र दिया जा रहा है। जैन संस्कृति के पावन प्रासाद द्वार पर ही यह 'मौटो' देखने को मिलता है कि 'न विषय भोगो भाग्यं, विषयेषु वैराग्यम्' विषय वासनाओं की प्राप्ति भाग्योदय का चिह्न नहीं, भाग्योदय का विलक्षण लक्षण विषयों से विरक्ति है। वासना-लिप्त धर्म को यहाँ विनाशकारी बतलाते हुए अनाथी मुनि कहते हैं -

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।

एसो विधम्मों विसओववन्नो, हणाइ वेयालइ वाविवन्नो॥ -उत्तरा २०/४०

पिया हुआ जहर, उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र और अच्छी प्रकार से बश में न किया हुआ बेताल (पिशाच) जैसे मनुष्य को नष्ट कर देते हैं, वैसे ही वासनायुक्त धर्माचरण आराधक का विनाश कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं खु तासु विन्नप्पं संभवं संवासं च वज्जेज्जा।

तज्जातिया इसे कामा वज्जकरा य एवमक्खाए॥ सुयगडांग ४/२/१९

इन स्त्रियों के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, इनका परिचय और संसर्ग वर्जित है, नारी संसर्ग जन्य कामभोगों को भगवान् जिनेन्द्र ने आत्म घातक कहा है।

विसया विसं व विसमा, विसया वेस्या नरव्व हादकरा।

विसय विसाय विसहर, बाधाणसमा मरण -हेऊ॥

काम-भोग विष के समान विषम है, अग्नि के समान दाहक है, पिशाच, सर्प और व्याघ्र के समान मरण के कारण हैं।

हासं किडं रइं दप्पं, सहभुत्तासियाणि य।

बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि॥ उत्तरा १६/६

स्त्रियों के साथ मजाक, नाना विध क्रीड़ाए, उनका सहवास, मेरी स्त्री अत्यन्त सुन्दर है, इस प्रकार की दर्पोक्तियाँ स्त्री के साथ बैठ कर भोजन और उसके साथ एक ही पलंग पर बैठना आदि काम-क्रियाओं का सेवन तो दूर रहा, उनका चिंतन भी न करें।

दुज्जए कामभोगेय, निच्चसो परिवज्जए।

संका ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं॥ उत्तरा १६/१४

ये काम भोग अजेय है, ये शंका शीलता के प्रमुख कारण है, इसलिये मानसिक एकाग्रता के अभिलाषी को इनका परित्याग ही कर देना चाहिये।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं। उत्तरा ३२/१९

काम की निरन्तर अभिलाषा से दुखों की उत्पत्ति होती है।

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भंवति सेसा

नारी-संग का अतिक्रमण करते ही विश्व के सभी पदार्थ सुखकारी हो जाते हैं।

यह जैन सांस्कृतिक साहित्य का कामनीति सम्बन्धी ग्राह्य एवं आचरणीय दृष्टिकोण है, परन्तु यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि जैनागम कामासक्ति विरोधी होते हुए भी नारी जाति का विरोधी नहीं है। यहाँ नारी को मोक्षाधिकारिणी माना है, उसे केवल वासना पूर्ति का यन्त्र न कह कर उसे सम्मान्य पूज्य स्थान दिया है। उनका कथन है -

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशील संयमो पेताः।

निजवंशतिलक भूताः श्रुत-सत्यसमन्विता नार्थः॥ -ज्ञानार्णव, १२/५७

शम-शील-संयम से युक्त अपने वंश में तिलक समान श्रुत तथा सत्य से समन्वित नारियाँ धन्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सतीत्वेन महत्वेन वृतेन विनयेन च।

विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम्॥ ज्ञानार्नव, १२/५८

स्त्रियाँ अपने सतीत्व से, महत्व से, आचरण की पवित्रता से, विनयशीलता और विवेक से धरातल को विभूषित करती है।

ब्राह्मी, सुन्दरी, अन्जना, अनन्तमती, दमयन्ती, चन्दना, राजीमती, एवं सीता आदि के सतीत्वमय नारीत्व पर जैन संस्कृति की गर्व है। तीर्थंकरों के मातृत्व के रूप में उनके गरिमा सिंहासन सब के लिये वन्द्य है। 'गिहीवासे वि सुव्वए' -सुव्रती रहकर गृहस्थ धर्म के पालन का यहाँ निषेध नहीं है। यहाँ कामनीति को मर्यादा में बाँधकर रखने का आदेश है, उसे स्वच्छन्द -विहारिणी बनने से रोका जाय, यही जैन संस्कृति का ध्येय है।

धर्म नीति - धर्म नीति के सम्बन्ध में अगर यह कहा जाय कि 'जैनागम धर्ममय हैं' -जैन साहित्य-सागर में धर्मोमियों के विलास ही विलास दृष्टिगोचर होते हैं ऊर्मिमाला ही सागर है और सागर ही ऊर्मिमाला है, इस रूप में दोनों का एकत्व प्रसिद्ध है। 'उठे तो लहर है बैठे तो नीर है, लहर कहे या नीर खोय मू' की उक्ति चिरकाल से कर्ण-परिचित है।

यद्यपि धर्म क्या है, इस प्रश्न की उत्तरमाला ओर छोर रहित हो चुकी है, फिर भी इस प्रश्न का प्रश्न-चिह्न उत्तर की प्रतीक्षा में ज्यों का त्यों खड़ा है। धर्म का परिभाषात्मक रूप स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे -'दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः' -आत्मा को दुर्गति के गहरे गर्त में गिरने से बचाकर जो उसे धारण करता है, वही धर्म है। इसीलिये चार पुरुषार्थों में धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है।

धर्मानुगामिनी अर्थ-नीति अनर्थकारिणी नहीं हो सकती, ध-धृर्मता काम-नीति को भी बुरा नहीं कहा जा सकता है, मोक्ष की तो आधार-भूमि धर्म ही है, इसलिये इसे उत्कृष्ट मंगल कहा गया है।

धम्मो मङ्गल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमोतवो।

अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही सर्वोत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप से वह दिव्य चेतना जागृत होती है, जिसके प्रकाश में वस्तु तत्व प्रत्यक्ष हो उठता है। इसलिये वस्तु स्वभाव को ही धर्म बतलाते हुए कहा गया है -'वत्थु सहावो धम्मो।' ठीक ही है जिसने वस्तु स्वभाव को जान लिया है, उष्णता अग्नि का स्वभाव है, वहीं उसका धर्म है, इस धर्म से रहित अग्नि हम कहीं भी नहीं पा सकते। मनुष्य का स्वभाव विवेक है -ज्ञान है। विवेक से ही वह हेय-उपादेय को जान सकता है। हेय का त्याग कर सकता है और उपादेय को ग्रहण कर सकता है, अतः विवेकवान ही मनुष्य है। विवेकहीन मानवता के पावन सिंहासन पर बैठने का अधिकारी ही नहीं है। मनुष्य शब्द द्वारा हम जिससे परिचित है, वह हाड़-मांस का ढाँचा ही नहीं है, वह भी हाथों वाले इस पौद्गलिक देह में रहने वाला आत्मा है। वह आत्मा ही धर्म है -

अप्पा अप्पमि रओ, रायादिसू सयलदोस परिचत्तो।

संसारतरणहेदुं धम्मोति जिणेहिं णिद्दिट्टं॥ भाव पाहुड़, ८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग, द्वेष आदि से रहित आत्मोद्धार सें संलग्न और संसार-सागर को तरने के लिये यत्नशील आत्मा को ही जिनेन्द्र भगवात् धर्म कहते हैं। इस धर्म के सम्बन्ध में शास्त्रोक्तियाँ इस प्रकार हैं -

बावत्तरी कला कुसला पंडिय पुरसा अपंडिया चेव।

सव्व कल्लाण व परंजे धम्मकलं न जाणंति॥

चाहे कोई व्यक्ति बहत्तर कलाओं में कुशल है, पण्डित है या मूर्ख है, यदि वह धर्म कला से अपरिचि है तो सभी कलाएं व्यर्थ है।

अविसंवायण संपन्नयाएणं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ। -उत्तरा २९/४६

निष्कपट व्यवहार से मनुष्य धर्म की आराधना करने वाला हो जाता है।

धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति। -सूत्रकृताङ्ग २/२/३९

धर्मानुकूल आजीविका करने वाल ही सद्गृहस्थ है।

एगा धम्मपडिया जं से आया पज्जवजाए। - स्थानाङ्ग १/१/४०

आत्मा की विशुद्धि केवल धर्म से ही होती है।

एगे चरेज्ज धम्मं। -प्रश्न व्याकरण २/३

चाहे तुम अकेले ही क्यों न हो ओ, धर्म का आचरण करते रहो।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो य सें मोक्खो। -दशवैकालिक ९/२/२

विनय ही धर्म का मूल है और मोक्ष ही उसका अंतिम फल है।

जा जा वच्चइरयणी, न सा पड़िनियत्तई।

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥ -उत्तरा १४/२५

जो रातें बीत जाती है, वे पुनः लौट कर कभी नहीं आती। बीतती हुई रातें उसी की सफल है, जो धर्म का आचरण करते हैं।

एको हि धम्मो नरदेव ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि। -उत्तरा १४/२०

राजन्! एक धर्म ही मनुष्य का रक्षक है, उसके बिना मनुष्य की रक्षा करने वाला कोई नहीं।

धम्ममहिंसा संम नत्थि। -भक्त परिज्ञा, ९१

अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।

जरा मरण वेगेण बुज्झमाणाण पाणिणं।

धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं॥ -उत्तरा २३/६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुढ़ापे के असह्य भार से दब कर मृत्यु-नदी के जलौध में बहते हुए प्राणियों को यदि कोई सुन्दर आश्रय मिल सकता है तो वह है धर्म।

ये तो जैनागम-सागर की बुद्धि तट के समीप आई दो-चार तरंगे हैं, जिनके हमने ऊपर दर्शन किये हैं, ऐसी असंख्य धर्मोर्मियो के यहाँ दर्शन किये जा सकते हैं, स्वाध्याय की तरणी पर बैठकर उन मंगलमयी तरल तरंगो को देखने के चाव की आवश्यकता है।

मोक्षनीति - मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता। हम यहाँ देखते हैं, कि प्रतिदिन अनन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, खाते हैं, पीते हैं, और 'जीवेत् शरदः शतम' के पाठ स्वरों में सौ वर्ष तक इस धरती पर सास लेते रहने की कामना करते है। यह भी उस अवस्था में, जबकि अपने ही कन्धों पर कितने ही शवों को ढोकर श्मशान की अग्नि में जला आते हैं। मनुष्य को पता है कि मुझे लगभग सौ साल जीना है, फिर भी वह इतना जुटाना चाहता है जिसकी सीमा न हो। यदि उसे यह पता चल जाय कि उसको हमेशा यही रहना है तो वह सारे संसार की रजिस्ट्री, सारी दुनिया के हक-हकूक अपने नाम करवा लेने के काम से भी न चूकता।

प्रश्न है कि क्या यह आना-जाना स्वयं ही हो रहा है? अथवा इसके पीछे कोई अन्य प्रेरक शक्ति है? स्वयं कुछ हो नहीं सकता, तो फिर वह कौन सी शक्ति है, जिसकी अनियंत्रित प्रेरणा से आवागमन का चक्र निरन्तर धूम रहा है? वीतराग जिनेन्द्रों ने उस प्रेरक शक्ति का अन्वेषण कर रही लिया और कहा -'वह शक्ति कर्म भार से बंधन है, यदि कर्म-भार को उतार कर फेंक दिया जाय तो यहीं मोक्ष है।' तभी तो आत्मा को अमृतत्व-सिन्धु में स्नान कराने वाले आत्मधर्मा मुनीश्वर कहते है -

विस्सेस कम्ममोक्खो मोक्खी जिणसासणे समुद्दिट्ठो।
तम्हि कए जीवोऽवं, अणुहवई अणंतयं सोक्खं॥

सम्पूर्ण कर्मों के पाशों को तोड़कर स्वतंत्र हो जाना ही तो मोक्ष है। जिनेन्द्र भगवान् का यह आदेश है कि 'यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधि गच्छति' जिसे मोक्ष की भी आंकाक्षा नहीं, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः मोक्ष के लिये उस अवस्था की आवश्यकता होती है, जिसमें इच्छा निरोध नहीं, इच्छाओं का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय इसीलिये मोक्षावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है-

ण वि दुक्खं, ण वि सुक्खं, ण वि पीड़ा, णे व विज्जदे वाहा।
ण वि मरणं, ण वि जणणं, तत्थेव य होई निव्वा॥

जहाँ दुःख नहीं, इन्द्रिय सुख नहीं, जहाँ पीड़ा नहीं, जहाँ कोई बाधा नहीं, न जन्म है, न मरण है, वहीं तो मोक्ष है।

इस अवस्था की अनुभूति के कुछ क्षण तपस्वी जीवन में भी आते हैं, उस जीवन में आनन्दोल्लास के साथ मुक्त आत्माएं कहा करती हैं -

न में मृत्युः कुतो भीतिः, न मेव्याधिः कुतो व्यथा।
नाऽहं बालो न बृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब मैं मरण-मुक्त हूँ तो डरूं किससे, जबकि रोग मेरे पास आ ही नहीं सकते, तो पीड़ा कैसी? न मैं बच्चा हूँ, न युवा हूँ, न वृद्ध हूँ यह सब तो पुद्गल क्रीड़ा है, होती रहे यह क्रीड़ा मेरा इस क्रीड़ा से क्या प्रयोजन है।

से सुंमच में अज्झत्भयं च मे, बंधप्पमुक्खो अज्जत्थेव। -आचारांग ५/५२

मैंने सुना है और अनुभव किया है कि मैं आत्मा हूँ, बन्धनों से मुक्त हूँ। कितने उल्लास मय होते होंगे इस अनुभूति के क्षण। यह आनन्दोत्सव के क्षण, सदाभावी बन जाय, इसी का प्रयास है वह समस्त सांस्कृतिक साहित्य जो मोक्षनीति का अनुगामी है।

नीति-शास्त्र की सीमाएं लोक तक ही सीमित हैं, परन्तु जैनागमों की नीति लोक-परिचायिका तो है ही, साथ ही उस ओर भी ले जाने वाली है, जहाँ मोक्ष है, जहाँ नीति का अवसान है, जो जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

ऊपर हमने चतुर्वर्ग रूप जैनत्व-मण्डित नीति-शास्त्र का विहंगावलोकन किया है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन-साहित्य एकांगी साहित्य नहीं, उसमें जीवन के सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त निष्कर्ष है, उसमें जीवन के हर पहलू को परख कर उपस्थित किया गया है, उसमें लोक की वास्तविकता के ऐसे बहुरंगी चित्र उपस्थित किये गये हैं, जिनसे मनुष्य लोक की दुःखमयता से परिचित होकर उधर बढ़ सके जिधर आनन्द का अनन्त सिन्धु लहरा रहा है।

* * * * *

आधुनिक सम्यता का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि मानव अन्यत्यवाद की लहरों में बह गया हैं। अपने आपको मूएका बाहरों जगत में सुख तथा शांति प्रात्त करने का प्रयत्न करता हैं। परिणाम यह होता है कि न तो वह अपने आपकों पा सकता हैं और न जगत को ही पाता है। उसे कहीं भी शांति नसीब नहीं होता। आध्यात्मिक साधना के बिना व्यक्ति न तो परलोक सुधार पाता है और न इस लोक में सी तृष्णा के कारण संतुष्टि प्राप्त कर सकता हैं।

• ***युवाचार्य श्री मधुकर मुनि***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org